International Research Journal of Human Resource and Social Sciences
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
Impact Factor 7.924 Volume 10, Issue 11, Nov 2023
Website- www.aarf.asia, **Email** : editoraarf@gmail.com
© Association of Academic Researchers and Faculties (AARF)

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में पर्यावरणीयनीति : व्यक्ति एवं समाज के मध्य

Dr Sipu Jayswal, Associate Professor
Janki Devi Memorial College, University of Delhi
Sir Ganga Ram Hospital Marg, Old Rajinder Nagar, New Delhi-110060

दर्शन का कार्य मानव जीवन और जगत् के विषय में बौद्धिक, नैतिक और मूल्यात्मक विवेचना प्रस्तुत करना है, तो आज मानव जीवन जिस पर्यावरणी संकट से गुजर रहा है उस पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि ''व्यक्ति समाज में रहकर अपने आचार–विचार निर्धारित करता है और इसी समाज से उसका व्यवहार चलता है। इसलिए व्यक्ति के शरीर का समाज से प्रभावित होना स्वाभाविक है अतः यह प्रभाव हितकारी एवं सुखद भी होता है और अहितकारी तथा दुखद भी। अपने वैयक्तिक आचार–विचार और व्यवहार को देश, काल, आयु के अनुसार सात्विक सद वृत्तिमय रखकर तथा सामाजिक नियम द्वारा व्यवहार कर स्वयं तथा समाज में संतुलन रख सकता है।''[1] मनुष्य का जीवन और उसका विकास, यह ऐसे प्रश्न हैं जिसका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से न होकर समाज से होता है। समाज और संस्कृति भौगोलिक दशा पर निर्भर है क्योंकि उसी भौगोलिक स्थिति से प्रभावित होकर वह उन्नत व विकसित होती है। इसलिए कृत्रिम समाज और संस्कृति अर्थात अपसंस्कृति या प्रति संस्कृति का प्रसार पर्यावरणीय असंतुलन का परिणाम कहा जा सकता है। अपने मूल अर्थों में स्वस्थ सामाजिक व सांस्कृतिक विकास में मनष्य अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ निष्पक्षतापूर्वक सामाजिक न्याय और मानव गरिमा के वातावरण में संतोषप्रद जीवन के गुण की प्राप्ति करता है। इस ''विकास में, सभी के विकास में अपना विकास हो। यह भावना निहित रहती है। इसलिए समाज को भोगवादी नहीं त्यागवादी होना चाहिए।''[2]

सामाजिक पर्यावरण के अर्थ में विकास वह है, ''जिसमें न्यायपूर्ण वितरण हा जिससे प्रकृति का मनुष्य द्वारा और मनुष्य का स्वयं मनुष्य द्वारा शोषण न हो।''[3] विकास के विषय में ''स्वस्थ पर्यावरण जैसे भी बन सके वही विकास है। ऊर्जा प्रवाह और पदार्थों का संचरण परिस्थिति के अनुसार सामाजिक सेवा में इस धारणा से लगाना कि प्रकृति से उधार की हुई वस्तु उसे वापस कर देना है। जब तक की हमारे अर्थ और विज्ञान–नैतिकता का सहारा नहीं लेंगे हमारा कल्याण नहीं हो पाएगा। इसलिए हमें एक नयी सभ्यता का विकास करना है जिसमें व्यक्ति, समाज, भौतिक तथा जैविक संसाधन उन्नत किए जा सके।''[4]

इस प्रकार भौतिक, प्राकृतिक पर्यावरण के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक पर्यावरण इनमें कोई भी अनेकला महत्वपूर्ण नहीं हो सकता, बल्कि विकास संगठनात्मक पूर्ण व व्यवस्थित होना चाहिए। इसके लिए इन

[1]डॉ. प्रचेता ज्योति, *धातु साम्य में मनोभावों का स्थान,* नागपुर : विश्वभारती प्रकाशन, 2001, पृ. 109
[2]डॉ. प्रो. हृदयनारायण मिश्र, सामाजिक राजनीतिक दर्शन के नये आयाम, इलाहाबाद, शंकर प्रकाशन, 1998, पृ. 313
[3] वही, पृ. 313
[4]प्रो. आर.डी. मिश्रा, पारिस्थितिकी का दर्शन, डॉ. प्रो0 हृदयनारायण मिश्र, सामाजिक राजनैतिक दर्शन के नये आयाम, इलाहाबाद, शंकर प्रकाशन, 1998, पृ. 305

सभी के विभिन्न आयामों और पहलुओं को समझने और अध्ययन करने की आवश्यकता है। यह विकास समाज एवं परिवार में प्रेम, स्नेह, सहिष्णुता, सहयोग, परोपकार आदि से ही संभव है। ये सभी आन्तरिक भाव तभी अक्षुण्ण रह सकते हैं, जब व्यक्ति विकास की अंधी दौड़ में सम्मिलित न हो। इसके साथ ही वह त्याग की भावना रखे, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को प्राप्त करना व उनका संग्रह करना व्यक्ति के स्वस्थ विकास को क्षीण करता है। अतः मनोवौज्ञानिक दृष्ट से विकास का तात्पर्य मानसिक संतुलन एवं क्रियात्मक व संरचनात्मक विकास से है। सामाजिक पर्यावरण के संतुलन के लिए मानव की मौलिक प्रवृत्ति को बढावा देने की शक्ति होनी चाहिए। इसके लिए पारिवारिक स्तर पर ही बल देना होगा अर्थात् सामाजिक जीवन जीने के लिए व्यक्तिगत स्तर पर रूचि लेना आवश्यक है। स्वस्थ पर्यावरण हेतु कोई भी योजना को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह समुदाय की संस्कृति का एक भाग हो। सांस्कृतिक आधार पर भी लोग उसे अपनाने के लिए तैयार होते हैं।

आज समाज में तथा–कथित विकास ने सामाजिक नैतिक दृष्टि को धुंधला कर दिया है। इसका प्रमाण चारों ओर व्यापक रूप से फैली हुई मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार, मद्यपान बाल व्यभिचार, दूषित प्रजातंत्र, अनेक मानसिक रोग, नारी–उत्पीड़न आदि है। अब बहुत कम आश्श्चर्य होता है, जब बढ़ती हुई जनसंख्या व्रूभिचार, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, छल–कपट आदि व्यवहार को हेय दृष्टि से न देखकर सामान्य व्यवहार के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। जिसके कारण हिंसा, आत्महत्या आदि असामाजिक व्यवहार को इससे बढ़ावा मिला है। बौद्ध दर्शन की शिक्षा इस संदर्भ में त्याग प्रधान है। व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध के महत्व को जानते हुए अपनी सद्वृत्त चर्चा में वैयक्तिक सदवृत्त के साथ–साथ मानसिक चारित्रिक, धार्मिक और सामाजिक सद्वृत्तों की भी चर्चा की गयी है। मनुष्य के भीतर उमड़ने–घुमड़ने वाले अनगिनत प्रश्न, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, चिन्ता, छल, कपट, अभिमान, भय, मोह, लोभ, वैर आदि भाव और विचार मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को दूषित करते हैं। इसे दूर करने के लिए ही बौद्ध दर्शन में इन्द्रिय लोलुपता परधन संग्रह की इच्छा छलकपट, कलह, श्रेष्ठ व्यक्तियों से विरोध, दुष्ट व्यक्ति की संगत, पूज्य लोगों के अनादर व अपमान से बचकर चलने का आग्रह *जातक* कथाओं के माध्यम से किया गया है। संसार में भोग करते हुए भी कीचड़ में कमल के समान त्यागमय जीवन ही बौद्ध दर्शन में आदर्श जीवन माना गया है। इसलिए *जातक*में, ''सदाचार, संयम, इन्द्रियदमन, अस्तेय, पूज्यों का आदर–मान, सहनशीलता, सरलता, क्षमा, शांति, दान–दया आदि को स्वस्थ गुणों के विकास का मार्ग बताया गया है। आज के भ्रमित सुख के आवरण में दुख, तनाव, अश्रद्धा आदि से जीवन प्रमादित होकर अस्वस्थ और रुग्ण हो गया है।''[5]

यदि हम वैयक्तिक, सामाजिक, मानसिक, शारीरिक सभी प्रकार के सद्वृत्तों पर समुचित आचरण करें तो हम मानव समाज के स्वास्थ्य को उत्तम बनाकर उसे संस्कारित कर स्वस्थ समाज के निर्माण के लक्ष्य को पा सकते हैं। इस प्रकार ''जनोपदोध्वंस व्याधियों का कारण दूषित वायु, जल, देश और काल कहा जा सकता है और इन चारों के दूषित होने का मूल कारण अधर्म, युद्ध और मनुष्य का मोह होता है। जो अपने अहं और स्वार्थ के लिए अनीति को अपना कर युद्ध करते हैं। इन्होंने मूल कारणों से मनुष्य जिस वातावरण में रहता और जिसको वह प्रति क्षण ग्रहण करता है वही वायु, जल आदि व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। जिससे पूरा समाज ग्रसित होता है।''[6] भौतिक सुखों की दौड़ वस्तुतः सुखदायक नहीं है। शुद्ध और सात्विक जीवन शैली की पहचान ही शील और सदाचार है। विवेक सम्मत वाह्य आलम्बनों आर भीतरी मनःस्थितियों को संतुलित रखकर जीने की जीवन शैली को ही स्वस्थ जीवन कहा गया है, जो वास्तविक सुख है। बौद्ध

[5]डॉ. प्रचेता ज्योति, *धातु साम्य में मनोभावों का स्थान*, नागपुर : विश्वभारती प्रकाशन, 2001, पृ. 116
[6] डॉ. प्रचेता ज्योति, *धातु साम्य में मनोभावों का स्थान*, नागपुर : विश्वभारती प्रकाशन, 2001, पृ. 116

नीतिशास्त्र के अनुसार इस सुख की प्राप्ति के लिए बुद्धत्व (ज्ञान) को प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए जरा, रुगणता और मृत्यु की उलझन भरी परतों को उतारक तथ्य को स्पष्ट कर पवित्र जीवन को उपस्थिति करना आवश्यक है। इसलिए बौद्ध नीतिशास्त्र में केवल भौतिक जीवन को ज्ञान–कोष में न रखकर आध्यात्मवादी दृष्टिकोण को भी महत्व दिया गया है। दूसरे शब्दों में, ''आनन्द की भूख, जीवन की भूख है। शारीरिक और मानसिक क्रिया व्यापार इस भूख की तृप्ति करने वाले भोज्य पदार्थ हैं। यदि इनसे तृप्ति होती है, तो जीवन स्वस्थ है, परन्तु तृप्त न होकर भूख की झूठी अभिवृद्धि की पूर्ति करते रहना अथवा विकार ग्रस्त हो जाना जीवन की वास्तविक अस्वस्थता है अर्थात् दुख है, रोग है।''[7] इस स्वस्थ जोवन शैली के मार्गानुसरण करने और जीवन लक्ष्य को पूरा करने के लिए बौद्ध जाकतक–कथाएं, ''हमें पहले स्थूल के भौतिक दृश्य का परिचय कराती हैं। दृश्यमान जगत को समझना जीवन को समझना है।''[8]और इसे समझने की आकांक्षा पहला चरण है। ''इस इच्छा से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की दिशा मिलती है। इस इच्छा और ज्ञान की क्रमिक प्रेरणा प्रयत्न के मार्ग पर दृढ़ कर देती है। इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न बाहर से भीतर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं।''[9] ''जीवन शैली का सम्बन्ध मात्र शरीर की स्वस्थता से ही नहीं है, बल्कि मन, विचार और स्वभाव सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।''[10] ''जीवन शैली का सम्बन्ध मात्र शरीर की स्वस्थता से है नहीं है, बल्कि मन, विचार और स्वभाव सभी इसके अन्तर्गत आ जाते है।''[11] अतः मनुष्य व समाज का उत्कर्ष और विकास का समुचित मूल्यांकन धन से, शक्ति से, या पुस्तकीय ज्ञान से ही नहीं कर सकता। इसका समुचित मूल्यांकन शारीरिक और मानसिक स्वस्थता से ही संभव है।''[12]

सामाजिक जीवन जिसमें व्यक्ति की मुख्य भूमिका स्वयं के विकास के लिए जीवकोपार्जन करना है। इसके लिए ही व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ जुड़ता है तथा नाना प्रकार के सम्बन्धों को विकसित करता है। इन सम्बन्धों की परिशुद्धि से ही सामाजिक जीवन की परिशुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है। समाज में व्यक्ति विकृतियों के कारण इन सम्बन्धों में स्वार्थपरता, हिंसा, अन्याय, लोभ आदि है। अतः सामाजिक सम्बन्धों की इन विकृतियों को दूर करने से सामाजिक परिवेश विशुद्ध होगा। इसके लिए बौद्ध नीतिशास्त्र में 'आर्य अष्टांगिक' मार्ग की उपादेयता उल्लेखनीय है। जिसमें चित्त, काय, वचन, कर्म आदि सभी तथ्यों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही 'ब्रह्म–विहार' की कल्पना भी इन्हीं सम्बन्धों को सुदृढ़ करने हेतु की गयी है। हम कह सकते हैं कि आर्य आष्टागिक मार्ग यदि सामाजिक जीवन का 'सैद्धान्तिक पक्ष' है तो 'ब्रह्म–विहार' उसका व्यावहारिक पक्ष है। जो व्यक्ति विशेष से होकर सम्पूर्ण सामाजिक परिप्रेक्ष्य पर लागू होता है।

जातकों के माध्यम से दोनों सिद्धान्तों की सामाजिक जीवन में उपादेयता अनेक स्थलों पर बताई गई है। इसके माध्यम से अनेक सजीव उदाहरणों को आज के वसामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्याप्त विकृतियों के प्रति–प्रक्ष के रूप में रखा जा सकता है। जैसे – कुसनालि *जातक*[13], किछन्द *जातक*[14], कुम्भ *जातक*[15], गण्डतिन्द्र *जातक*[16], तेसकुण *जातक*[17], सकिंच्च

[7] वही, पृ. 118
[8] वही, पृ. 118
[9] वही, पृ. 118
[10] वही , प. 118
[11] वही, पृ. 121
[12] वही, पृ. 122
[13] डॉ. प्रचेता ज्योति, *धातु साम्य में मनोभावों का स्थान,* नागपुर : विश्वभारती प्रकाशन, 2001, पृ. 122
[14] *जातक,* (द्वितीय खण्ड हिंदी अनुवाद) सं. 131, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1985, पृ. 50
[15] *जातक,* (पंचम खण्ड हिंदी अनुवाद) सं. 511, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 88
[16] *जातक,* (पंचम खण्ड हिंदी अनुवाद) सं. 512, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 97
[17] *जातक,* (पंचम खण्ड हिंदी अनुवाद) सं. 520, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 185

जातक[18], सोम *जातक*[19] आदि। समाज में व्याप्त आजीविका सम्बन्धी व्यभिचार, मद्यपान, राजोवाद वर्णभेद, प्रजातंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार आदि का निदान इन *जातकों* के माध्यम से स्थल–स्थल पर बोधिसत्त्व ने बताया है।

आजीविका :– बौद्ध दर्शन में आजीविका सम्बन्धी व्यभिचार के संदर्भ में अनेक पापमय दोषों की व्याख्या की गई है। ''कर्म, विद्या, धर्म, शील एवं उत्तम आजीविका इन की शुद्धि पर ही मानव के चित्त की शुद्धि निर्भर है अधिक धन या उच्च गोत्र. पर नहीं।''[20] इस प्रकार अनेक स्थलों पर चित्त की शुद्धि को महत्वपूर्ण बताया गया है। 1. ''जीवनयापन के लिए पापमय इच्छा रखेन वाला, म्लेच्छ आचरण करने वाला, अपने में अविद्यमान व अयर्थाथ लोकाचार अथवा परामानवीय स्थिति होने का दावा करने वालों को 'पाराजिक आपत्ति' होती है।''[21]2. ''जो आजीविका के लिये स्त्री का संदेश पुरुष के पास या पुरुष का सन्देश स्त्री के पास पहुँचाता है उसे 'संघादिसेस आपत्ति' होती है।''[22] ''जो आजीविका के लिए गृहस्थों से खुशामद के रूप में यह कहता है जो भिक्षु तुम्हारे विहार में रहता है वह अर्हत ही हो जाता है। जो आजीविका के लिए अच्छे व स्वादिष्ट भोजन अपने लिए गृहस्थों से बनवा कर खाता है उसे 'पाचित्तिय आपत्ति' होता है।'[23] 5. ''जो भिक्षुणी आजीविका के लिए रुग्ण न होते हुए भी अपने लिए भोजन बनवा कर खाये उसे 'परिदेशणीय' दोष होता है।''[24]इस प्रकार आजीविका की शुद्धि के लिए पालि शिक्षापदों में अनेक दोष बताए गए जिन्हें दूर कर आजीविका परिशुद्ध हो सकती है। आर्य अष्टांगिक मार्ग में भी आजीविका के लिए सम्यक् आजीविका का उल्लेख किया गया है।

विशुद्धिमग्ग में ''कुहना, लापना, निष्पेषिकता आदि पदों द्वारा आजीविका सम्बंधी दोषों को दिखाकर जीकोपार्जन की शुद्धि की व्याख्या की गई है।''[25]

कुहना :– ''लाभ, सत्कार, यश के प्रलोभन में पड़े, पापमय इच्छा रखने वाला, अस्थिरता, कृत्रिमता, ठगना, ढोंग करना आदि भाव 'कुहना' हैं।''[26]

लापना (वाचालता)– ''लाभ, सत्कार या यश पाने के प्रलोभन में पूर्ववत जो दूसरों के प्रति व्यंग, छेड़–छाड़, किसी विषय पर पूछने पर विषयान्तर की बात कर देना, बात को बढ़ा–चढ़ा कर कहना, दूसरों की बातों में फंसना या फसाना, बोली जाने वाली बातों को सत्य या धर्म के अनुरूप न समझते हुए भी दूसरों के प्रत खुशामद के लिए प्रिय बातों को बोलकर स्वार्थ सिद्धि के लिए सेवाटहल करना ही लापना (वाचालता) है।''[27]

निष्पेषिकता :– ''एक लाभ से दूसरा लाभ खोजना आदि।''[28] ''आजीविका परिशुद्धि 'वीर्य' अर्थात उद्योग से करना चाहिए। अतः अनुचित अन्वेषण त्याग कर पिण्डपात चर्या आदि सम्यगवेषणाओं से इस वीर्य की साधना करनी चाहिए। परिशुद्ध रूप से उत्पन्न प्रत्ययों का ही उपभोग (प्रतिसेवन) करने से एवं अपरिशुद्ध से उत्पन्न आजीविका को सर्प के समान छोड़ना ही 'परिशुद्ध उत्पाद' कहलाता है।'[29] इस प्रकार ''आजीविका के लिए प्रज्ञप्त इन, 'कुहन, लपन,

---

[18] *जातक,* (पंचम खण्ड हिंदी अनुवाद) सं. 521, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ.195
[19] *जातक,* (पंचम खण्ड हिंदी अनुवाद) सं. 530, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 195
[20] मज्झिमनिकाय, 3.3.50.
[21] *भिक्खुपातिमोक्ख पाराजिकाधम्मा,* सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वारणसी : बौद्धभारती, 1981, पृ. 4–6.
[22] *यो पन भिक्खु सञ्चरित्तं समापज्जये इत्थिया वा पुरिसमतिं, पुरिसस्स वा इत्थिमतिं जायत्तने वा तारत्तने वा, अंतमसो तखनिकाय पि, संघादिसेसो। पञ्चम संज्ञादिसेसा धम्मा भिक्खुपतिमोक्ख, (सं.)* स्वामीद्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1981, पृ. 8.
[23] *पाचित्तिया धम्मा। भिक्खुपतिमोक्ख,* सं. द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1981, पृ. 8
[24] *पाचित्तिया धम्मा। भिक्खुनीपातिमोक्ख, विनय पिटक,* (अनुवादक) राहुल सांकृत्यायन..
[25] *विसुद्धिमग्ग,* आचार्य बुद्धघोष, (हिंदी अनुवाद प्रथम खण्ड), सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1998, पृ. 35
[26] *विसुद्धिमग्ग,* आचार्य बुद्धघोष, (हिंदी अनुवाद प्रथम खण्ड), सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1998, पृ. 35
[27] *विसुद्धिमग्ग,* आचार्य बुद्धघोष, (हिंदी अनुवाद प्रथम खण्ड), सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1998, पृ. 35.
[28] *विसुद्धिमग्ग,* आचार्य बुद्धघोष, (हिंदी अनुवाद प्रथम खण्ड), सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1998, पृ. 35.
[29] वि.म.

नैमित्तिकता, लाभ से लाभ को खोजना आदि प्रकार के अकुशल धर्मों से की गई जो मिथ्या आजीविकाओं से जो विरति है ये 'आजीव परिशुद्धि शील' है।''[30]

आजीविका परिशुद्धि के लिए उदाहरण के रूप 'लाभगरह *जातक*'[31]को लिया जा सकताव है। इस *जातक* में शास्ता ने अनुचित उद्योग द्वारा प्राप्त जीविका की निन्दा की है और उचित साधन से सम्यक् आजीविका का सेवन करने का उपदेश दिया है। यह कथा उस समय की है, जब बोधिसत्त्व वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य में ब्रह्मणकुल में पैदा हुए और प्रसिद्ध आचाय बने। एक सदाचारी ब्रह्माण के पूछने पर कि– ''वस्तुओं की प्राप्ति कैसे होती है?'' उन्होंने कहा– ''जो उन्मत्त की तरह नहीं है, जो चुगली नहीं करता है, जो नाट्य करने वालों की तरह नहीं है। तथा जो असंयत नहीं है। वह मुर्ख आदमियों से लाभ प्राप्त नहीं करता।''

मद्यपान :– मद्यपान से समाज में होने वाले दोषों के बारे में 'कुम्भ *जातक*'[32]में बताया गया है। इस *जातक* में सुरा तथा वारूणी का अविष्कार और उसके पीने से होने वाली हानियों के बारे में व्याख्या की गयी है। देवराज इन्द्र के रूप में बोधिसत्त्व ने श्रावस्ती के राजा सर्वमित्र को इस संदर्भ में बताया। वाराणसी, साकेत, श्रावस्ती आदि अनेक नगर इस सुरा के नष्ट हो जाने पर बोधिसत्त्व ने सोचा यदि शीघ्र ही सुना के दोषों को प्रकट न किया गया तो समस्त जम्बुद्वीप नष्ट हो जाएगा। इसलिए ब्राह्मण का वेष धारण कर शक्र ने सर्वमित्र को सुरा से होने वाली हानियों के बारे में बताया। सुरा वह है जिसे पी कर अभिमान से लाल आँखें कर के मनुष्य यह समझने लगता है कि सारी पृथ्वी मेरी है और कोई चक्रवर्त्ती राजा भी मेरे समान नहीं है। उस सुरा से भरा यह घड़ा है जो अभिमान पैदा करने वाली है जो कलह करने वाली है जो चुगलखोरी का कारण है जो दुर्वर्ण करने वाली है जो नग्न करने वाली है, जो धूर्त चोरों की गति ह उसका निकेतन है।

जिसे पीकर व्यक्ति शरीर, मन अथवा वाणी से दुष्कर्म करता है, और दुष्कर्म करके नरकगामी होता है। राजा, सुरा के दोष को जान कर प्रसन्न चित्त से बोधिसत्त्व की स्तुति करते हुए सुरा के घड़े को तुड़वा कर शील में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार *जातक* में सामाजिक अभिशाप रूपी मद्यपान से विरक्त किया गया है। जो आज के संदर्भ में पर्यावरणीय नीति के रूप में प्रसांगिक है। इस रूप में उदाहरण प्रस्तुत करने का दूसरा महत्व यह है कि यह मनुष्य के व्यवहार के साथ–साथ उसके चित्त को भी शुद्ध करता है। यह बताता है कि, किस प्रकार चित्त के वशीभूत हो व्यक्ति कोई कम करता है, और चित्त की शुद्धि से ही उस पर नियंत्रण भी करता है।

राजोवादः– राजोवाद के गुण–दोष के संदर्भ में 'गण्डतिन्द्र *जातक*'[33] और 'तेसकुण *जातक*'[34] उदाहरणीय है। इसको शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय सुनाया था। इन दोनों में शस्ता ने राजा को अधर्म, प्रमाद आदि के दोषों को वृक्ष देवता तथा पक्षियों के माध्यम से बताया है। 'गण्डतिन्द्र *जातक*'[35] में, पञ्चम नरेश के अधर्म से प्रमादी होने पर उसके आमात्य आदि अधार्मिक हो गए। अतः दिन में राज पुरुष लूटते और रात में चोर। बाधिसत्त्व ने तिन्कुक देवता के माध्यम से राजा को राज्य धर्म का उपदेश दिया।

[30]आजीवपरिशुद्धिशील शब्द का अर्थ है– जिसके सहारे जीते हैं, वह 'आजीव' कहलाता है। यह आजीव की परिशुद्धि ही 'आजीवपरिशुद्धि' कहलाती है। – विशुद्धिमग्ग, आचार्य बुद्धघोष, (प्रथम खण्ड), सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी : बौद्धभारती, 1998, पृ. 45.
[31] *जातक* (तृतीय खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 278, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1971, पृ. 141
[32] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 512, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 71.
[33] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 520, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 185.
[34] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 521, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 195
[35] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 520, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 185

यदि राजा प्रमाद से राज्य करता है तो सारे राज्य का स्वामी भी नहीं रहता। अर्थ, सत्ता और राज्य की हानि होती है। राजा के आश्रित जीने वाले हाथी सवार, पहरेदार, रथी और पैदल सैनिक भी राजा को श्रत्रिय नहीं मानेंगे। जो असंयमी हो, जो मूर्ख हो जिसकी मंत्रण गलत हो ऐसे दुर्बुद्धि मनुष्य को श्री उसी प्रकार छोड़ देतो है, जिस प्रकार साँप केंचुल को छोड़ता है। इस प्रकार शास्ता ने अगति गमन के दोष और अगति अगमन के लाभ दिखाकर काम–भोगों आदि से विरक्त हो कर राज्य करने का उपदेश दिया है। जिससे समाज व देश में एक स्वस्थ व सुदृढ़ व्यवस्था रहे। आज के राजनीतिक परिवेश में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रतीतक के रूप में इस *जातक* को देखा जा सकता है। ऐसे अस्थिर शासन में न व्यक्ति का विकास हो सकताव है, और न समाज प्रगति कर सकता है। अतः लोभ और प्रमाद से रहित शासक ही एक स्वस्थ राज्य व समाज का निर्माण कर सकता है।

हिंसाः– समाज में व्याप्त हिंसा, आत्म–हत्या, गर्भपात, अतिचार, परनारीगमन आदि विभिन्न अनुचित कर्मों के लिए बोधिसत्त्व ने मानसिक, शारीरिक एवं सामाजिक विक्षोभ रूपी अनेक नरकों की व्याख्या की है।[36] जिसमें मनुष्य को उसके द्वारा किये गये कर्म के अनुरूप फल प्राप्त होना अनिवार्य है। 'संकिच्च *जातक*[37] मे शीघ्र राज्य पाने की आकांक्षा में पिता की हत्या कर डालने वाले राजकुमार को बोधिसत्त्व ने इन रकों का उपदेश दिया है। साथ ही मछलियों, हिरनों, गौओं के हत्यारे, निन्दनीय की प्रशंसा करने वाले की अधोगत का भी वर्णन किया है। ऐसे धार्मिक कर्म के लिए तीखे काटों वाले नरक तथा लोहे के हथौड़ज्ञें से तलवारों से वाणों से मारे जाने का वर्णन है। उसी प्रकार ठगी के लिए तथा पशुओं की सहायता से पशुओं का तथा पक्षियों की सहायता से पक्षियों का शिकार खेलने वाले असत्पुरुष रसातल में जाने वाले होते हैं।

इस प्रकार तरह–तरह के नरक दिखा कर बोधिसत्त्व ने लोगों को अधर्म से सावधान किया है। जिसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है, और सामाजिक वातावरण दूषित होता है। उपरोक्त नरक संभवतः आज का यही दूषित वातावरण है, जिसमें जीवन का विकास अवरुद्ध होता है।

रस तृष्णा :– रस तृष्णा के वशीभूत हुआ मूर्ख व्यक्ति यदि भावी भय को नहीं देखता तो वह अपने पुत्र, पुत्रियों तथा रिश्तेदारों का नाश कर, बाद में अपने को ही खाता है। 'महासुत्तसोम *जातक*[38] में भगवान बुद्ध ने रसतृश्णा के वशीभूत एक राजा को मानव माँस–भक्षण से रोकने के लिए उपदेश दिया है। उस नरभक्षी राजा को मानव माँस ही प्रिय था। इसलिए शास्ता ने कहा ''जो प्रिय समझ कर प्रिय को कामना से अपनी हानि कर के प्रिय का सेवन करता है। वह विष भरा पात्र लेने वाले शराबी की तरह पीछे दुख प्राप्त करता है। जो विचारपूर्वक प्रिय का त्याग कर कठिनाई से भी, आर्य धर्म का सेवन करता है वह कष्ट से भी औषधि पीने वाले रोगी की तरह आगे चल कर सुखी रहता है।

पुनः बोधिसत्त्व ने कहा इस पृथ्वी पर जितने रस रहै, उनमें सबसे श्रेष्ठ सत्य का रस है। उसी सत्य रस के महात्म से शास्ता ने उस नगर भक्षक राजा से नर भक्षण के त्याग का वचन लिया। बोधिसत्त्व ने रस तृष्णा से वशीभूत मानव को मानव का ही बैरी होने से रोकने के लिए कहा ''शरीर के अंग विशेष की रक्षा के लिए जिस प्रकार धन का त्याग करते

[36] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 530, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 346
[37] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 530, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 346
[38] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 537, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 3535

हैं, जीवन की सुरक्षा के लिए अंग का त्याग करते हैं उसी प्रकार आदमी को चाहिए की धर्म की रक्षा करने के लिए धन, अंग शरीर सभी का त्याग करे।''[39]

वर्ण भेद अथवा वर्ग भेदः– बौद्ध दर्शन के अनुसार, ''वर्ण का आधार जन्म नहीं कर्म है।''[40] ''यदि ब्राह्मण गाय चराता है, तो उसे ग्लावा ही कहना चाहिए। अतः सभी चार वर्ण एक हैं।''[41]साथ ही बौद्ध दर्शन इस मत पर विश्वास करता है, एक मनुष्य को समाज में, जो उसका वास्तविक स्थान है, उस पर आना चाहिए। मनुष्य अपने स्वतंत्र संकल्प से कर्म कर के उस स्थान को प्राप्त कर सकते ह।[42]इस प्रकार वर्ण भेद और वर्ग भेद को जन्म के आधार पर न मान कर कर्म प्रधान मानना बौद्ध दर्शन की सामाजिक व्यवस्था के लिए एक महत्वपूर्ण देन है।

'कुसनाली *जातक*'[43]के माध्यम से बोधिसत्त्व ने इसे और भी विस्तारपूर्वक समझाया है। इस कथा में मित्र धर्म की रक्षा कर सकने के सामर्थ्य को ही मित्रता की वास्तविक कसौटी माना गया है, न की जाति, धर्म एवं सामाजिक प्रतिष्ठा आदि को। मित्रता अपने से छोटे से भी करना चाहिए, बराबर वाले से भी और श्रेष्ठ से भी। जैसे कुसा ग्राम ने वृक्ष देवता का उपकार, अपनी प्रज्ञा बल के आधार पर किया। अतः मित्रता के लिए जाति, गोत्र, धन–धान्य आदि की समानता होना आवश्यक नहीं है। एक–दूसरे की सामाजिक प्रतिष्ठा को मित्रता का आधार न मानकर एक–दूसरे का आदर करना चाहिए।

सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने व किसी को उस स्थान पर पहुँचने का आधार बौद्ध दर्शन के अनुसार 1. सेथन (स्वयं संकल्प) है। 2. वीर्य (ऊर्जा), 3. साधना, 4. पराक्रम, 5. पुरुषकार, 6. पुरुष पराक्रम आदि है।

जिससे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ होती है। समाज में संघर्ष से आगे बढ़ने की होड़ में जो अव्यवस्था फैलती है, जिससे सामाजिक वातावरण दूषित होता है। उसका निदान उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है।

एकता :– एकात्म भाव से विश्व को देखना भगवान् बुद्ध की मुख्य शिक्षा है। इसलिए भगवान् बुद्ध एकात्मता से यह बताना चाहते हैं कि, हमें समाज में रहते हुए कोई भी कर्म समाज की एकता को ध्यान में रखकर करना चाहिए। दूरदर्शी होना चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए कोई भी ऐसा कर्म नहीं करना चाहिए, जो दूसरों के लिए अथवा स्वयं के लिए भविष्य में कष्टकर हो। संसार में देखा जाता है कि, ''किसी एक व्यक्ति की जरूरत पूरी करने के लिए एक पूरा समूह काम करता है। चाहे वो दाँत साफ करने की एक लकड़ी ही क्यों न हो। जैसे– इस कृत में एक हाथ है, जो पेड़ काटता है दूसरा बनाता है, और तीसरा उपयोग करता है।''[44]संसार में सभी कॊ शांति और सुख चाहिए। परन्तु इसकी प्राप्ति के पथ, सबके लिए अलग–अलग हैं। एक अकेला व्यक्ति इसके लिए कुछ नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्ति समूह में यह कम करना चाहता है, परन्तु बिना आध्यात्मिक चेतना के यह कार्य संभव नहीं है बल्कि कठिन है।

इसलिए ''बौद्ध दर्शन हमारी सामाजिक संरचना में एक शुद्ध जागरुकता और अविवादित मूल्यों को भरना चाहता है। जो भगवान् पर आश्रित न हो कर मनुष्य के स्वयं के प्रयास पर निर्भर हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत् शुभ व सामाजिक मूल्यों को

[39] *जातक* (पंचम खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 537, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1954, पृ. 704
[40] वासेट्ठसुत्त, मज्झिम निकाय–2, पृ. 704
[41] मज्झिम निकाय, पृ. 85–86.
[42] मित्र सुत्त, सुत्त निपात, 16.
[43] *जातक* (द्वितीय खण्ड, हिंदी अनुवाद), सं. 121, भदंत आनंद कौसल्यायन, प्रयाग : हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1985, पृ. 50.
[44] **Martine Batchelor & Kerry Brown (ed.) Budhhims & Ecology, Delhi : Motilal Banarsidass, 1994. p. 55.**

सुधारने के लिए अथवा इसको पूर्ण बनाने के लिए एक आन्तरिक अभ्यास की आवश्यकता है। जो व्यक्ति को बदलता है।''[45] बौद्ध धर्म सामाजिक संरचना के उन सभी पहलुओं को चुनौती देता है, जो हमें अन्धा बनाते हैं, और पारिस्थितिकीय दुष्परिणाम को बढ़ावा देते हैं। उदाहरणस्वरूप पाश्चात्य ''प्रजातांत्रिक व्यवस्था जिसके 1. मूल्य विहीन वस्तुनिष्ठ ज्ञान 2. असीमित विकास 3. व्यक्तिगत् स्वतंत्रता आदि दुष्परिणाम हैं, जो बचे हुए नैतिक मूल्यों को क्षीण कर रहा है। जैसे– दया, शील, संयम, उपकार आदि।''[46] इन समस्याओं का निदान बौद्ध *जातकों* में उपस्थित है। बौद्ध *जातक* हमें बताते हैं कि बौद्ध शिक्षा का अभ्यास कैसे सामाजिक जीवन के लिए किया जा सकता है? बौद्ध दर्शन में जो भिक्षुओं का जीवन या एक विशेष अभ्यास है। वह किसी भी मानवीय प्रवृत्ति की अति को रोकने के लिए है। उसे अभ्यास का प्रयोग बताना *जातकों* का उद्देश्य है।

बौद्ध दर्शन के लिए सामान्य लोगों में यह भ्रांति है कि, बौद्ध शिक्षा भिक्षुओं के लिए ही है। परंतु *जातक* कथाएं हमें यह बताती हैं कि, यह शिक्षा कैसे सामाजिक, संस्कृति और प्राकृतिक जीवन पर भी लागू होती हैं? यह अभ्यास कैसे एक जीवन से शुरू होकर एक ग्राम फिर एक जनपद, एक राज्य, एक दिशा, कए चक्रवाल के जीवों के प्रति बढ़ता जाता है। यह हमें बौद्ध दर्शन के ''ब्रह्म–विहार'' की कल्पना में मिलता है। जिसका मूल मंत्र जीवों के प्रति चार प्रकार की चित्त वृत्तियां हैं– 1. दूसरों का हित साधन करना, 2. उनके दुःखों का अपनयन करना, 3. उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना, 4. सब प्राणियों के प्रति पक्षपात रहित और समदर्शी होना। यही बौद्ध दर्शन की व्यवहारिक परिगणति है, जिससे सामाजिक पर्यावरण को स्वस्थ किया जा सकता है।

[45]**Martine Batchelor & Kerry Brown (ed.) Budhhims & Ecology, Delhi : Motilal Banarsidass, 1994. p. 38**

[46]**Martine Batchelor & Kerry Brown (ed.) Budhhims & Ecology, Delhi : Motilal Banarsidass, 1994. p. 38**